आभार-प्रदर्शन

प्रेमी पाठकवृन्द !

प्रस्तुत "अनन्तपूर्णिमा" ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक-सहायता देने वाले निम्नलिखित सज्जन हैं:—

[illegible]

के उपर्युक्त तीनों भाई बड़े मिलनसार और उदार हैं। स्थानीय स्थानक भवन के निर्माण में इन्होंने १००१) रुपयों का सद्व्य दान दे दिया। अपनी तीनों धर्मपत्नियों के वर्षीतप के उपलक्ष में इन्होंने प्रस्तुत पुस्तक में १२५) रुपये प्रदान किये हैं। इसी अवसर पर श्रीमान् जालिमचंदजी ने भी अपनी बहिन श्रीमती बाराबाई के वर्षीतप के उपलक्ष में ५१) रुपये अपनी ओर से प्रदान किये। इन सब सज्जनों द्वारा उदारता का जो परिचय मिला है, वह प्रशंसनीय है।

१२५-०-० पाचोरानिवासी श्रीमान् मणिलाल भाई की धर्मपत्नी श्रीमती कुन्दन बहिन के वर्षीतप के पारणे के उपलक्ष में अमलनेरनिवासी श्रीमान् गाँडालाल भाई ने पं. मुनि श्री कल्याणऋषिजी म. सा. के सदुपदेश से प्रभावित होकर प्रस्तुत पुस्तक में १२५) रुपयों की आर्थिक-सहायता प्रदान की है। आप दान के अवसरों को कभी खाली नहीं जाने देते ! प्रतिवर्ष विभिन्न सत्प्रवृत्तियों में आप सदा दान दिया करते हैं। आज तक अनेक संस्थाओं में आपने हजारों का दान दिया है। आपकी दानवीरता से समाज को बहुत-कुछ सीखने का है !

१२५-०-० करजगाँव-निवासी स्व० श्रीमान् खुशाल-चन्दजी सा. के धर्मप्रेमी सुपुत्र श्री माणकचन्दजी सा. काम्बड़ अपने गाँव में सबसे अधिक उदार सज्जन हैं ! आपकी धर्मपत्नी श्रीमती प्यारीबाई खूब तपस्या करती हैं। धर्मध्यान में आपकी बहुत दिलचस्पी रहती है। पाचोरा में पं. मुनि श्री कल्याण-ऋषिजी म. सा. विराजमान थे, उस समय "अक्षयतृतीया" के दिन वर्षीतप के पारणे के उपलक्ष में परिवार-सहित दोनों

ज्ञानालय" की ओर से बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ ! और आशा करता हूँ कि अपने समाज का धनिकवर्ग ऐसे ज्ञान-प्रचार के प्रसंगों पर अपना हाथ सदा ऊँचा रक्खेगा !

[*सूचना:—स्मरण रहे कि उपलब्ध आर्थिक-सहायता के अतिरिक्त होने वाला सारा व्यय संस्था ने उठाया है !*]

कन्हैयालाल छाजेड़

सेक्रेटरी:—

श्री अमोल जैन ज्ञानालय,

गली नं. २, धूलिया (प.खा.)

८ बृहद् साधु सम्मेलन-अजमेर संवत् १९९० चैत्र शुक्ला १ बुधवार को सम्मिलित हुए।

९ विहार क्षेत्र-दक्षिण भारत, हैदराबाद स्टेट, कर्नाटक, बँगलोर, मैसूर स्टेट, महाराष्ट्र प्रदेश, खानदेश, मध्य प्रदेश, बरार, बंबई प्रदेश, गुजरात, कच्छ, काठियावाड़, मालवा, मेवाड़, मारवाड़, गोरवाड़, दिल्ली, पंजाब, शिमला आदि आदि।

१० संयम काल पूर्ण वैरागमय, कर्मण्यतामय, और साहित्य-सेवा करते हुए सानंद व्यतीत किया। आपश्री बाल ब्रह्मचारी थे, सभी संप्रदाय के संत समुदाय और श्रावक वर्ग पूज्यश्री जी के प्रति समान भाव से प्रेम, सहानुभूति, भक्ति और आदर रखते थे। आप शांत दांत और क्षमाशील थे। अपने युग में आपश्री एक आदर्श-साधु के रूप में विख्यात तथा सम्मानित थे।

११ साहित्य सेवा-आपश्री द्वारा अनुवादित, संपादित, लिखित और संग्रहीत एवं रचित ग्रंथों की संख्या १०२ हैं जिनकी कुल प्रतियां १७६३२५ प्रकाशित हुई। कुल ग्रंथों की मूल प्रेस कॉपी के पृष्ठों की संख्या पचास हजार जितनी है।

१२ दीक्षित शिष्य-आप द्वारा दीक्षित संतों की याने खुद के शिष्यों की संख्या १४ है।

१३ संयम काल-पूज्यश्री जी ने ४८ वर्ष ६ महीना और १२ दिन तक साधु-जीवन की याने संयमकाल की परिपालना की।
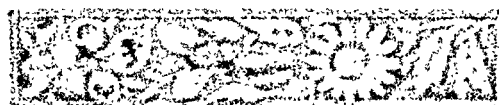
आकृति को देख कर हम उसकी प्रकृति (मिठास , का बोध प्राप्त कर ही लेते हैं। उसी मिस्री को पानी में घोल दिया जाय तो मिस्री की दृश्य आकृति विलीन हो जायगी, फिर भी प्रकृति की सत्ता उसकी आकृति के अस्तित्व का बोध कराती ही रहेगी।

यह वस्तुस्थिति बतला रही है कि आकृति और प्रकृति दोनों सहचर-साथी हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। पानी में घुली हुई मिस्री की भी आकृति विद्यमान है जो पानी के जल जाने पर दिखाई देती है। जैसे यहाँ पानी की समुपलब्धि हमारी दृष्टि का आवरण बन जाती है, उसी प्रकार अन्यान्य विषयों में समझिए।

असाधारण पुरुष आवरण (कर्म) रूपी पानी का शोषण करके यथार्थ एवं निर्मल ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। अतएव वे प्रकृति और आकृति दोनों को एक साथ जान लेते हैं। वे आवरणों से तथा भ्रम से अतीत हो जाते हैं। तथ्य उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता।

असाधारण महापुरुष सब जगहों और स्थानों में नहीं होते। कभी-कभी और कहीं-कहीं से उनका उद्भव होता है। अतएव यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि फिर साधारण पुरुषों के लिए विकास का साधन क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि असाधारण पुरुषों की अविद्यमानता में साधारण पुरुषों को विकास का मार्ग न

विकसित एवं परिमार्जित करके विशुद्ध दशा प्रकट कर लेती है, वही असाधारण बन जाती है। वह प्रचण्ड जल-प्रवाह की तरह बंधनों को तोड़ फेंकती है, स्वयं आजाद हो जाती है और दूसरी आत्माओं के लिए मार्ग का निर्माण कर जाती है। साधारण जल प्रवाह के समान साधारण आत्माएँ उसी पथ पर अग्रसर होकर असाधारण की गति को प्राप्त करती हैं।

पर्वाधिराज पर्युषण, दीपमालिका, ज्ञानपञ्चमी, कृष्णाष्टमी, होलिका, रक्षाबंधन, काजलिया तीज, आदि अनेक लोकोत्तर और लौकिक पर्व तिथियाँ हैं। इन्हीं में अक्षयतृतीया भी एक विशिष्ट पर्व है।

अक्षयतृतीया भूलभुलैया में भटकते हुए प्राणियों के लिए मार्ग दर्शक यंत्र है। जीवन का निर्माण जब चौराहे पर दिङ्मूढ़ की तरह अटक जाता है तो अक्षयतृतीया जीवन के नवनिर्माता के हाथ की मसाल बन कर अंधकारमय पथ में प्रकाश की स्वर्ण-किरणें बिखेरती है। अक्षयतृतीया अतीत के गर्भ में विलीन महान आत्मा के पद चिन्ह हैं, जो पथभ्रष्ट पथिक का पथप्रदर्शन करते हैं।

दिशासूचक यंत्र, हाथ की मसाल और पदचिन्ह की आकृति के समान अक्षयतृतीया की भी एक आकृति है। यह आकृति प्रत्येक वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन संसार के रंगमंच पर आती है और पुनः अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती है।

अक्षयतृतीया पर्व को आकृति—द्रव्यतिथि के रूप में पहचानने वालों की कमी नहीं है, किन्तु प्रकृति-भावतिथि के रूप में जानने वाले ढूंढने पर भी विरले ही मिलेंगे। ऐसी स्थिति में इस महान् पर्व के विषय में उल्लेख करना आवश्यक है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने योग्य है। लोगों ने अपनी अपनी धारणा के अनुसार पर्व-तिथियों को विविध रंग दे दिये हैं। उनमें से एक यह भी है कि अमुक पर्व बड़ा और अमुक छोटा है। वस्तुत: पर्व अपने आपमें न बड़ा होता है न छोटा। यह तो केवल लोक-मानस की धारणा मात्र है। साथ ही पर्व ही सब कुछ नहीं है। पर्व ही सब कुछ होते तो प्रतिवर्ष इतने पर्व आते हैं कि अखिल संसार का कभी का उद्धार हो गया होता।

जिस मनुष्य की भावना में उत्कर्ष की मात्रा अच्छे परिमाण में है और जिसके अन्तरतम में जागृति की किरणें फूट चुकी हैं, वे पर्व से प्रेरणा पाकर उन्नत अवस्था प्राप्त कर लेते हैं और जिनकी भावना पतित है, जिनकी अन्तरात्मा में मलीमस वृत्तियाँ उग्र रूप में प्रबल रही हैं, वे पर्व के दिन में पवित्रता का स्पर्श नहीं कर सकते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पर्व भी भावना के अनुकूल ही फल देता है। श्रेयांसकुमार ने जिस दिन अपने भावों की विशुद्धता के कारण विश्ववन्द्य तीर्थंकर पद की प्राप्ति का कारणभूत नामकर्म उपार्जन किया और अक्षयतृतीया पर्व का निर्माण किया, उस दिन क्या और मनुष्य थे ही

२

आदिदेव ऋषभ जिन

मध्याह्न का समय है। दिवाकर ने अपने प्रचण्ड ताप का प्रसार करके पृथ्वी को तप्त तवे का रूप दे दिया है। झीनी-झीनी रज के कण भड़भूँजे के भाड़ की रेत के समान उष्ण हो रहे हैं। ऐसे समय में दीन, हीन, निर्धन जन भी अपने घर के गर्भ भाग में पड़े शीतल छाया का आनन्द लूट रहे हैं। जो बेघरबार हैं, जिन्हें घर नसीब नहीं हैं, वे भी किसी सघन वृक्ष की ठंडी छाया में पड़े पड़े खुर्राटे ले रहे हैं। पशु-पक्षी भी इधर से उधर जाने का साहस नहीं कर रहे हैं। जिधर देखो उधर ही पथ निर्जन-सुनसान नज़र आ रहा है।

परन्तु ज़रा दूरी पर नज़र दौड़ाइए। ऐसे विकट समय पर भी एक पथिक अपने मार्ग पर अग्रसर होता हुआ चला आ रहा है। अतिशय धीर और गंभीर गति से चलते-चलते यह समीप आ पहुँचा है। आश्चर्य ! न सिर पर छत्र है, न पैरों में जूतियां ! नंगे पैर और नंगे सिर !

लिए विचरण कर रहा है ? कौन जाने किसी के मन की बात ! अलबत्ता पथिक की भव्य और सौम्य आकृति स्वयं इस बात की साक्षी दे रही है कि वह असाधारण है और जगत् की वासनाओं से ऊँचा उठा हुआ महान् पुरुष है।

स्पष्ट ही जान पड़ता है कि वह गृहस्थ नहीं-त्यागी है। यद्यपि न उसके कर में कमण्डलु है, न अंग पर भभूत रमी है। न माथे पर जटाजूट की छटा है और न ललाट पर तिलक। न शृंगीनाद है, न मृग या व्याघ्र के चर्म का अपावन आसन ही। अपनी धुन का धनी यह महापथिक न मालूम क्यों और कब से ज़मीन और आसमान के गर्भ में घूम रहा है ! उग्रतर ताप के कारण मुँह का थूक सूख गया है। कण्ठ से कण्ठ मिल रहा है। प्यास ने गले को इतना सुखा दिया है कि प्राणवायु को गटकना भी कठिन जान पड़ता है।

गंभीर गति से चलता हुआ यह पथिक बस्ती के सन्निकट आ गया है, परन्तु इस दौड़धूप के अन्त में भी प्राप्ति-अप्राप्ति या हर्षविषाद की कोई रेखा उसकी चित्तभूमि पर कहीं अंकित दिखाई नहीं देती। जो वेग पहले था, वही अब है ! न चेहरे पर चंचलता है, न उद्विग्नता है !

बस्ती के भीतर प्रवेश करके पथिक ने एक गृहस्थ के घर में पाँव रखे। गृहस्थ की दृष्टि पथिक पर पड़ी कि वह अपरिमित हर्ष से गद्गद् हो उठा। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि मेरे घर को महापुरुष ऋषभदेव के चरण पावन कर सकते हैं ! मगर ऋषभदेव सचमुच उसके घर में थे। सहसा

लिए विचरण कर रहा है ? कौन जाने किसी के मन की बात ! अलबत्ता पथिक की भव्य और सौम्य आकृति स्वयं इस बात की साक्षी दे रही है कि वह असाधारण है और जगत् की वासनाओं से ऊँचा उठा हुआ महान् पुरुष है।

स्पष्ट ही जान पड़ता है कि वह गृहस्थ नहीं–त्यागी है। यद्यपि न उसके कर में कमण्डलु है, न अंग पर भभूत रमी है। न माथे पर जटाजूट की छटा है और न ललाट पर तिलक। न शृंगीनाद है, न मृग या व्याघ्र के चर्म का अपावन आसन ही। अपनी धुन का धनी यह महापथिक न मालूम क्यों और कब से ज़मीन और आसमान के गर्भ में घूम रहा है ! अन्तर ताप के कारण मुँह का थूक सूख गया है। कण्ठ से कण्ठ मिल रहा है। प्यास ने गले को इतना सुखा दिया है कि प्राणवायु को गटकना भी कठिन जान पड़ता है।

गंभीर गति से चलता हुआ यह पथिक बस्ती के सन्निकट आ गया है, परन्तु इस दौड़धूप के अन्त में भी प्राप्ति-अप्राप्ति या हर्षविषाद की कोई रेखा उसकी चित्तभूमि पर कहीं अंकित दिखाई नहीं देती। जो वेग पहले था, वही अब है ! न चेहरे पर चंचलता है, न उद्विग्नता है !

बस्ती के भीतर प्रवेश करके पथिक ने एक गृहस्थ के घर में पाँव रखे। गृहस्थ की दृष्टि पथिक पर पड़ी कि वह अपरिमित हर्ष से गद्गद हो उठा। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि मेरे घर को महापुरुष ऋषभदेव के चरण पावन कर सकते हैं ! मगर ऋषभदेव सचमुच उसके घर में थे। सहसा

गृहस्थ के मुख से निकल पड़ा—धन्य, आज मैं धन्य हुआ! मेरा आंगन धन्य हुआ। प्रभु की पवित्र पाद-रज से मेरी कुटिया धन्य हो गई!

गृहस्वामी की हर्षध्वनि गृहिणी के कानों पर पड़ी तो वह भी द्वार पर आ खड़ी हुई। छदमें भर में पास-पड़ोस के नर-नारियों का झुंड इकट्ठा हो गया।

एक ने कहा— अहा, यही हैं जगत् के जीवनदाता, यही हैं मानव जाति के महात्राता, यही हैं संसार के भाग्यविधाता।

दूसरे ने कहा - नाथ आप ही हैं न्याय-नीति के आद्य प्रणेता! संसार व्यवहार के प्रथम प्रवर्तक! जीवन-नीति के विधाता!

तीसरे ने भक्तिविह्वल होकर कहा—हे नाभिनन्दन! हे मरुदेवी सुतनन्दन! हे इक्ष्वाकुवंशावतंस! आपको बार बार नमस्कार हो! आज आपके दर्शनों से हमारा जीवन धन्य हो गया!

किसी ने कहा—आदि प्रजा को जय हो! जगत् के जीवों के प्राणसंकट को काटने के लिए असि, मसि, कृषि रूप आजीविका का विधान करने वाले और मर्यादा की स्थापना करने वाले महाप्रभु की जय हो!

किसी ने हाथ जोड़ कर और मस्तक झुका कर कहा—दीनानाथ! आपने हमारे ऊपर असीम दया की है। भगवन्!

अगर आपने अपने बुद्धिबल से जीवन कायम रखने के ढंग न निकाले होते तो आज हमारी क्या गति होती ? सचमुच आप हमारे प्राणरक्षक हैं। जब तक यह सृष्टि स्थित रहेगी, आपका महान् उपकार स्मरण करती रहेगी।

इस प्रकार अपनी प्रशंसा एवं स्तुति का पाठ सुनते हुए भी भगवान् ज्यों के त्यों गंभीर, शान्त और मध्यस्थ हैं। उनके सौम्य आनन पर प्रसन्नता की थोड़ी-सी झलक भी दिखाई नहीं देती।

आपकी पाद-यात्रा ऐसा कहने के लिए विवश कर रही है। आज आपको आवश्यकता है तो अपनी ही वस्तु मान कर उससे अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति कर लीजिए।'

तीसरा:—

'लोकत्राता ! हम अबोध मानव सूर्य के प्रखर ताप से तप रहे थे। मूसलधार पानी की वर्षा में भीगते हुए थर-थर काँप रहे थे और शीतकाल में रोंगटे खड़ी कर देने वाली सर्दी से सिकुड़ रहे थे। तब प्राण रक्षा के लिए आपने ही भवन-निर्माण की कला का अविष्कार करके हमारे प्राण बचाए थे। हमें भवन की कल्पना ही नहीं थी हम निरुपाय थे। तब आपने ही इसके बनाने की विधि बतलाई थी। आपने यह कृपा न की होती तो हम वृक्षों की छाया के सहारे कब तक जीवित रहते ! अतएव प्रभो ! यह भवन आपकी ही बहुमूल्य देन है। आप इसे अंगीकार कीजिए। मेरे घर में पदार्पण कीजिए।'

चौथा:—

'पूज्यपाद ! असली गृह तो गृहिणी है। गृहिणी के बिना गृह को कौन बसाएगा ? मेरा कन्यारत्न सर्व गुण सम्पन्न है। रूपराशि का भंडार है। भगवन्, इसे स्वीकार कीजिए। आपको एकाकी देखकर हमारे हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। आपको आवश्यकता है और हम देने में अहोभाग्य समझते हैं। नाथ, यद्यपि मैं छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा हूँ; तथापि आपके सामने बालक ही हूँ। मेरी नादानी के लिए क्षमा कीजिए और इस कन्या को स्वीकार कीजिए।'

पाँचवाँ:—

'थाल भर मणि माणिक मोती लेकर द्वार पर खड़ा है। भगवान् जब द्वार के सामने से निकलते हैं तो कहता है -प्रभो! पधारिये मेरे आँगन में। आप हमारे मनो-मन्दिर के महनीय महा-देव हैं। हम आपके तुच्छ पुजारी हैं। स्वामिन्! हम आपकी आरती उतारते हैं। देव, इन रत्नों को स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए।'

छठा:—

'उपवन के सुन्दर सुवासित सुरभितमकरन्द सुमनों की माला की भेंट लेकर प्रभु का आह्वान कर रहा है। कहता है स्वामिन्, आप तीन लोक के नाथ, देवेन्द्रों और नरेन्द्रों के आराध्य हैं। विश्व का निखिल वैभव आपके चरणों में लोटता है। आपके दर्शन पाकर रोम-रोम हर्ष, उल्लास और आनन्द का अनुभव कर रहा है। मन का कण-कण विकसित हो रहा है। नाथ, आप हमारे माता, पिता और भ्राता हैं। हमारी सद्भावना पूर्ण भक्ति की प्रतीक इस माला को स्वीकार कीजिए।'

समय परिवर्तनशील है। आज इस भूमि पर विकास करते जाते मनुष्य जिस कर्मभूमि में जीवन-निर्वाह कर रहे हैं, वह सदा से नहीं चली आई है। यहाँ एक समय वह भी था जब लोग न खेती करना जानते थे, न व्यापार करना। न भोजन पकाना जानते थे, न धर्म और पाप समझना। उस समय न परिवार प्रथा थी, न समाज की स्थापना ही हुई थी। न राज्य-

शासन था, न विवाह आदि की कोई सामाजिक प्रथाएँ ही थीं। वह युगल-काल कहलाता है। सिर्फ पति-पत्नी साथ रहते थे और सन्तानोत्पत्ति होने के कुछ दिनों बाद ही उनका स्वर्गवास हो जाता था। उनका जीवन पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर था। कल्पवृक्षों से जीवन-निर्वाह होता था। कल्पवृक्षों से जिन आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो जाती थी, वही उनके जीवन की आवश्यकताएँ थी। उससे अधिक की न उन्हें इच्छा थी, न आवश्यकता ही। इस अवसर्पिणि काल के पहले और दूसरे आरे में यही क्रम चलता रहा। तीसरे आरे के आरंभ में भी यही पद्धति चालू रही। जब उसका काफी भाग व्यतीत हो चुका तो प्रकृति में सहज परिवर्त्तन होना आरंभ हुआ। पहले तो कल्पवृक्षों से आवश्यकताओं के साधन कम मिलने लगे और फिर धीरे-धीरे मिलना बंद हो गया। उस स्थिति में तत्कालीन प्राणी घोर संकट में पड़ गए। कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाले साधनों के अतिरिक्त उनके पास अन्य कोई साधन नहीं थे और कल्पवृक्षों से साधन प्राप्त नहीं हो रहे थे। वह समय मनुष्य जाति के लिए बड़ा ही भयानक था!

उस समय नाभि कुलकर के सुपुत्र भगवान् ऋषभ मौजूद थे। उन्होंने मानव जाति के इस महान् संकट का अनुभव किया। जनता की करुणा पूर्ण पुकार उनके कानों तक पहुँची। उनका दयामय हृदय द्रवित हो गया। वे अवधिज्ञान के धारक असाधारण प्रतिभा के धनी थे। अपने आत्मिक ज्ञान के बल से उन्होंने मनुष्य जाति के जीवन-निर्वाह के साधनों को भली-भाँति जानकर जनता को सिखलाया। खेती करने की शिक्षा

श्राविका के अभाव में प्रासुक आहार दान कौन और कैसे देता? उस समय के लोगों ने कभी साधु-साध्वी को नहीं देखा था। वे साधु के आचार से भी अनभिज्ञ थे। अतएव भगवान् ऋषभदेव को आहार मिलने में कठिनाई उपस्थित होना स्वाभाविक ही था।

क्षुधा और पिपासा परीषह सहन करते-करते एक वर्ष पूर्ण हो गया। एक वर्ष निराहार और निर्जल तपस्या करते-करते व्यतीत हो गया। भगवान् की सुन्दर और सुकुमार काया अन्न-पानी के अभाव में कटी हुई कल्पलता के समान मुरझाने लगी। उधर वे अपनी मर्यादा पर दृढ़ थे ही। अकल्पनीय आहार-पानी ग्रहण करने का विचार भी नहीं कर सकते थे। मर्यादा-पुरुष मर्यादा का उल्लंघन कर ही कैसे सकते थे! इस प्रकार भिक्षार्थ अटन करते रहने पर भी उन्हें भिक्षा न मिली। दोहरे कारण मिल गये। एक तरफ दानधर्म का अज्ञान और दूसरी तरफ अन्तराय कर्म का उदय! भगवान् भिक्षा के अर्थ जहाँ जाते, वहाँ यही पुकार सुनाई देती थी:—

आओ, आओ हमारे घर स्वामी,
आदीश्वर अन्तरयामी हो ॥ टेर ॥
कोई हस्ती सिणगारी लावे,
गले घूघर माल पहिरावे हो ॥ आओ०—१ ॥
प्रभु कृपा करी ने गज लीजे,
इणरी सवारी कीजे जी ॥ आओ०—२ ॥
कोई अश्व सुन्दर लावे,
रत्नों से साज सजावे हो ॥ आओ०—३ ॥
प्रभु पूछे आप विराजो,
मद पणवाला नहिं छाजे हो ॥ आओ०—४ ॥

कोई लावे रथ सुखपाला,
प्रभु लीजे दीनदयाला हो ॥ आओ०–५ ॥
प्रभु चरण–कमल सुखमाला,
प्रभु पगपाला न वि चालो हो ॥ आओ०–६ ॥
कोई लावे कन्या सिणगारी,
प्रभु सोहे जोड़ तुम्हारी हो ॥ आओ०–७ ॥
कोई लावे थाल भर मोती,
कोई पट पीताम्बर धोती हो ॥ आओ०–८ ॥
कोई लावे शाल दुशाला,
प्रभु पहरो अति सुखमाला हो ॥ आओ०–९ ॥
इम विध विध वस्तु लावे,
पण आहार कोई न वहिरावे हो ॥ आओ०–१० ॥
प्रभु घर घर आंगन जावे,
पग देख देख फिर जावे हो ॥ आओ०–११ ॥
भोला नर भेद न जाणे,
मुनि–मारग नहीं पिछाणे हो ॥ आओ०–१२ ॥
आगे किण ही न लीधी दीक्षा,
नाहीं मांगी घर–घर भिक्षा ॥ आओ०–१३ ॥
प्रभु के चार हजार हुआ चेला,
वे करे आहार विन हेला हो ॥ आओ०–१४ ॥

से भगवान् को एक वर्ष तक निराहार अवस्था में रहना पड़ा।

इतने लम्बे समय तक निराहार रहने पर भी उनके मन में पूर्ण समभाव था। वह जानते थे कि मेरा अन्तराय कर्म ही मुझे आहार पानी की प्राप्ति नहीं होने दे रहा है। अतएव उन्हें न किसी से कोई शिकायत थी और न वे किसी को इसके लिए उत्तरदायी समझते थे। वे तपोमार्ग का आलम्बन करके कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे थे।

जो परिवर्त्तन के अप्रतिहत चक्र के दायरे में न आती हो। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-सभी परिवर्त्तनशील हैं।

५६ अन्तरद्वीप, ३० अकर्मभूमियाँ और ५ महाविदेह; यह ६१ क्षेत्र ऐसे हैं जिनकी व्यवस्था में स्थूल परिवर्त्तन नहीं होता, किन्तु भरतक्षेत्र और एरवत क्षेत्र में काल के प्रभाव से महान् परिवर्त्तन हो जाता है-ऐसा परिवर्तन कि वहाँ की सम्पूर्ण व्यवस्था उलटपलट जाती है।

५६ अन्तरद्वीपों और ३० अकर्मभूमियों में युगलों (युगलियों) का वास है। वहाँ उदरपोषण के लिए असि, मसि या कृषि की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ के कल्पवृक्ष ही वहाँ के मनुष्यों आदि की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के पर्याप्त साधन हैं। पाँच महाविदेहों में यह बात नहीं है। वहाँ कल्पवृक्ष तो नहीं है, फिर भी भरत क्षेत्र की भाँति उलटफेर नहीं होता। वहाँ सदैव भरत क्षेत्र के चौथे आरे जैसी स्थिति बनी रहती है।

पूर्वोक्त ६१ क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र का सुख-दुःख, आयु, देह की ऊँचाई आदि में समय के प्रभाव से कोई अन्तर नहीं पड़ता। वहाँ सुख-दुःख का जो माप आज है, वही अनन्तकाल पहले था और अनन्त भविष्य में भी वही रहने वाला है। किन्तु भरत और एरवत क्षेत्र में समय के प्रभाव से जीवों के सुख, दुःख, आयु, संहनन, अवगाहना, बल-वीर्य आदि में कभी वृद्धि और कभी ह्रास होता है। इस बात को भलीभाँति समझने के लिए काल के विभागों को समझने की आवश्यकता है।

काल-चक्र के दो विभाग हैं और इन दोनों विभागों के

और पशु-पक्षियों के मन को लुभाने वाली हरियाली, फलों-फूलों एवं सरसब्ज उद्यानों से परिपूर्ण पृथ्वी होती है। सदा काल सर्व ऋतुओं की बहार रहती है। भूमि पर कंटकों, कंकरों, गड्ढों आदि का अभाव रहता है। समुचित वर्षा होती है। नदी-नालों और सरोवरों से पृथ्वी सुन्दर, सुरम्य और शोभायमान होती है।

इस काल के स्त्री-पुरुष और पशु-पक्षी आदि रूपवान्, कान्तियुक्त, सुन्दर होते हैं। प्रमाणोपेत अंगोपांग शुभ लक्षणों से युक्त होते हैं। रमणीय रोमावली, निर्मल नख और भव्य दीप्तिमान् चेहरा होता है। मधुर और सुगंधयुक्त प्राणवायु अत्यन्त स्वास्थ्यकर होती है। इस समय के मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम काल की और शरीर की अवगाहना तीन कोस की होती है। देहधारियों के शरीर में २५६ पसलियाँ होती हैं, वज्रऋषभनाराचसंहनन और समचौरस संस्थान होता है। इस आरे के जीव अल्पकषायी, मधुर स्वर वाले, सरलस्वभाव, विनम्र और उत्तम गुणों से सम्पन्न होते हैं।

इस काल के मनुष्यों की इच्छाएँ अल्प होती हैं और वे मनोवांछित फल की प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। चौथे दिन आहार करने की अभिलाषा होती है। फलाहार करके सन्तुष्ट रहते हैं। नर और नारी के युगल के रूप में मनुष्यों का जन्म होता है और दोनों साथ ही स्वर्गवासी हो जाते हैं।

आयु का अन्त सन्निकट होने पर अर्थात् कुछ दिन कम छह मास की आयु शेष रहने पर नारी रजस्वला होती है।

तत्पश्चात् स्त्री-पुरुष का संयोग होता है। समय आने पर बालक-बालिका का युगल जन्म लेता है। ४६ दिन उनका पालन-पोषण किया जाता है। तत्पश्चात् माता-पिता को उस युगल सन्तान पर ममत्व नहीं रह जाता। उनमें से एक छींक और दूसरा उबासी लेकर शरीर का त्याग कर देता है। किसी को रोग-शोक का आभास तक नहीं होता।

इस आरे में विद्याभ्यास, [illegible], लेखन कला तथा कृषि कर्म की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार के कल्पवृक्षों से सब आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं। देह के अतिरिक्त देवता मृत शरीर का अपहरण कर देते हैं। प्रायः जितनी आयु इस आरे में होती है, उतनी ही स्वर्गवास होने पर स्वर्ग में प्राप्त होती है। कभी-कभी कुछ न्यूनता भी हो सकती है।

(२) दूसरा आरा

दूसरा सुषमा नामक आरा तीन कोटाकोटी सागरोपम का होता है। इस आरे में पूर्वोक्त सभी बातों में ह्रास हो जाता है। पृथ्वी के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की वह मनोहरता भी कुछ कम हो जाती है। इस दूसरे आरे की आदि में मनुष्यों की आयु दो पल्य की और देह की ऊँचाई दो कोस की रह जाती है। शरीर में पसलियों की संख्या आधी अर्थात् १२८ ही रह जाती है। तीसरे दिन आहार लेने की इच्छा होती है। बच्चों का पालन-पोषण ६४ दिन तक किया जाता है। शेष सब बातें प्रथम आरे के समान ही होती हैं, परन्तु उनकी उत्कृष्टता की मात्रा अनन्तगुणी हीन हो जाती है।

न हो मनुष्य को कृतार्थ नहीं बना सकता। उस सुख के गर्भ में भयंकर दुःख का विकराल दैत्य अट्टहास करता छिपा रहता है। अतएव सांसारिक सुख स्थायी सुख नहीं और न उसमें शाश्वत शान्ति प्रदान करने का सामर्थ्य ही हो सकता है। शाश्वत सुख और शान्ति का असली स्रोत आत्मा ही है। अपनी आत्मा को जगाने से उसकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार की विचारधार से प्रेरित होकर भगवान् ऋषभदेव ने अमर शान्ति की सृष्टि करने के हेतु एक नया कदम उठाया। वह था त्यागमार्ग को अपनाना। उन्होंने स्वयं ही त्याग एवं संयम का आदर्श उपस्थित करने के लिये मुनिवृत्ति अङ्गीकार की। ऐसा करने में स्वात्म-शुद्धि की भावना प्रधान थी ही। भगवान् ने कठिन तपश्चर्या करके कर्मों का मल प्रक्षालन किया और परमोज्ज्वल आत्मस्वरूप की उपलब्धि की। इन्हीं महापुरुष की साधना के फल स्वरूप संसार को सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति हुई।

(४) चौथा आरा

यह आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल का होता है। देहमान घटते-घटते पाँच सौ धनुष का रह जाता है। व्यक्तिगत आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक कोटि पूर्व की होती है। इस काल में पहले उत्तम संहनन और उत्तम संस्थान था। अकाल मृत्यु, अल्पायु तथा रोग-पीड़ा का अभाव था। अतएव मनुष्य उत्कृष्ट आयु का भोग करते थे। धीरे-धीरे इस स्थिति में ह्रास होना नहा

होती जाती है। आत्मज्ञान पर मिथ्यात्व और मोह का आवरण पड़ता जाता है। लोग दुःख को सुख समझ कर उसी में फूले रहते हैं। अन्तिम तीर्थंकर–जो चौथे आरे के अंतिम भाग में सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं– का बुझता हुआ रत्नत्रय का प्रकाश जय-तय चमक उठता है। पुण्यशाली प्राणी उस प्रकाश में विचरण करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं। अधिकांश मनुष्य मोहनिद्रा में निमग्न रहते हैं।

पाँचवें आरे का जैसा नाम है, उसी के अनुसार यह दुःखमय है। पृथ्वी के रस-कस में अनन्त गुणा ह्रास हो जाता है।

(६) छठा आरा

इस आरे की अवधि भी पाँचवें आरे के बराबर इक्कीस हजार वर्ष की है। पाँचवें आरे की आदि में मनुष्यों का देहमान सात हाथ का था। घटते घटते अन्त में एक हाथ का रह जाता है। छठे आरे के आरंभ में भी यही देहमान रहता है और अन्त में मुंड हाथ का ही रह जाता है।

व्यक्तिगत आयु भी सौ वर्ष से कुछ अधिक की थी, वह घटती-घटती पाँचवें आरे के अन्त में २० वर्ष की रह जाती है। छठे आरे की आदि में यही आयु रहती है और फिर घटती-घटती छठे आरे के अन्त में सिर्फ १६ वर्ष की (उत्कृष्ट) रह जाती है।

पाँचवें आरे के आरंभ में १६ पसलियां रह गई थीं। यह

भी ज्यों की त्यों न रही। घटती-घटती अन्त में ८ ही रह गई। छठे आरे के अन्त में केवल चार ही रह जाती है।

पाँचवें आरे का जीव मर कर स्वर्ग में जा सकता है, परन्तु छठे आरे के जीव नरक या तिर्यञ्च गति में ही जाते हैं।

छठे आरे की आदि में प्रलयकारी पवन चलता है। प्रचण्ड अग्नि की वर्षा होती है। पर्वत और पहाड़ हिल कर धूल में मिल जाते हैं। गिने-चुने मनुष्य अवशिष्ट रहते हैं और वे गंगा-सिन्धु के किनारे बिलों में रह कर बड़ी बुरी तरह अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

छठे आरे के इक्कीस हजार वर्ष पूर्ण होते ही अवसर्पिणी काल समाप्त हो जाता है और उत्सर्पिणी काल आरंभ होता है। कुछ ऐसी प्राकृतिक घटनाएं होती हैं, जिनके कारण पृथ्वी पुनः सरस हो जाती है। अवसर्पिणी काल में जिस क्रम से ह्रास हुआ था, उसी क्रम से इस काल में पूर्वोक्त सभी बातों में वृद्धि होती जाती है। उत्सर्पिणी काल में भी यही छह आरे होते हैं, मगर उनका क्रम विपरीत होता है। उनका वर्णन पूर्वोक्त आरों के ही समान समझना चाहिए।

प्रस्तुत कथा का सम्बन्ध भगवान् ऋषभदेव के साथ होने के कारण यह स्पष्ट है कि यह कथा अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे की है। कालचक्र के वर्णन से इस कथा का काल समझना सरल हो जायगा।

पराक्रम के धारक महासत्वशाली बाहुबली सरीखे उनके सौ पुत्र थे ! इन्द्र चरणों का दास था। स्वयं त्रिलोकीनाथ थे। समस्त जनता प्रभु के पसीने की एक बूंद पर अपना खून बहाने को तैयार थी। किन्तु कर्म के राज्य में किसी की नहीं चलती। भगवान् आहार-पानी के लिए घर-घर अटन करते रहे फिर भी संयोग न मिला।

भगवान् समभाव की साक्षात् प्रतिमा थे। आहार की प्राप्ति में वे सुख नहीं समझते थे और अप्राप्ति में दुःख का अनुभव नहीं करते थे। प्रत्येक परिस्थिति में मध्यस्थ भाव धारण करके पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करना ही उनका एक मात्र लक्ष्य था।

ऋषभदेवजी ने जब मुनि दीक्षा अंगीकार की तो उनके स्नेह से प्रेरित होकर अन्यान्य लोग भी उनके साथ दीक्षित हुए थे। परन्तु वे सभी लोग न भगवान् जैसी उग्र चर्या का पालन कर सके और न भूख-प्यास के कष्ट को सहन ही कर सके। कुछ दिनों तक उन्होंने भगवान् के आदेश की प्रतीक्षा की, परन्तु वे तो मौन साध कर तपश्चर्या कर रहे थे। अतएव जब कोई उत्तर न मिला तो उन्होंने भोजन का अपना ढंग निकाल लिया। किसी ने कंदमूल खाना आरंभ कर दिया और किसी ने फल-फूल खाकर अपना काम चला लिया। परन्तु भगवान् अपनी प्रतिज्ञा पर सुमेरु की भाँति अचल-अटल रहे।

बारह मास व्यतीत हो गये। भगवान् आदिनाथ उस समय हस्तिनापुर के समीप विचरण कर रहे थे। ग्रीष्म ऋतु चल रही थी। उस समय एक नवीन घटना घटित हुई।

प्रक्षेपण किया गया कि श्रेयांसकुमार के पैरों तले की जमीन फटने लगी। यहाँ तक कि पैर उछलते ही उस दुग्ध धारा में विलीन हो जाने का खतरा सामने आ गया। इस खतरे से बचने के लिए श्रेयांसकुमार ने ज्यों ही मेरु को अपने विशाल बाहु-पाश में पकड़ना चाहा, त्यों ही झीनी मलमल की चादर उसके दोनों हाथों में आ गई।

कुमार श्रेयांस ने आँखें मल-मल कर देखा—बार-बार देखने का यत्न किया, मगर मेरु की वह अनुपम सुन्दर छटा फिर दृष्टिगोचर न हुई।

श्रेयांस कुमार को अब विश्वास हो गया कि उसने स्वप्न देखा है। पर अनोखा स्वप्न! वह इस स्वप्न को भूल न सका। जागृत अवस्था में भी वही स्वप्न उसकी आँखों के आगे तैरने लगा। इस अद्भुत स्वप्न की अनोखी घटना की विचार तरंगों पर आरूढ़ होकर वह कल्पना-सागर में अवगाहन करने लगा।

२. दूसरा स्वप्न

महाराजा सोमप्रभ संग्राम में तन्मय होकर शत्रु-सेना का संहार करने के अर्थ विकट बाणवर्षा कर रहे थे। तीरन्दाज़ सोमप्रभ तीर समाप्त हो जाने पर खड्ग हाथ में लेता है। परन्तु शत्रु भी निर्बल नहीं है। उसके शूरवीर योद्धाओं ने सोमप्रभ के खड्ग के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। सोमप्रभ निहत्था हो गया, पर निराश नहीं। उसने अपने वज्रमय मुष्टि प्रहार से शत्रु सेना का मर्दन आरंभ कर दिया। मगर विविध प्रकार के शस्त्रों के साम

आखिर बुद्धि प्रहार कहाँ तक काम दे सकता था ! निदान राजा सोमप्रभ को शत्रु सेना के सुभट भालों की नोकों के बीच घेर लेते हैं। इसी समय अकस्मात् श्रेयांस कुमार वहाँ आ पहुँचता है। वह शत्रु-सुभटों को परास्त करके पिता के चरणों में झुक जाता है। सोमप्रभ प्रेमावेश से अपने पराक्रमी पुत्र का आलिंगन करता है। वह अपने बाहुपाश को इतने जोर से दबाता है कि हड्डियाँ मिलकर निकलती नज़र आती है।

इस प्रकार महाराज सोमप्रभ स्वप्न भंग होते ही विचारों की तरल तरंगों में बहने लगते हैं।

३. तीसरा स्वप्न

गंभीराकार समुद्र में वेला—हिमकर की किरणें टूट-टूट कर गिर रही हैं और कुमार श्रेयांस उन टूटी किरणों को पुनः सूर्य के साथ जोड़ रहा है। कुमार निराधार व्योम में विचरण कर रहा था। व्योम-विचरण के पश्चात् पृथ्वीतल पर उतरते हुए कुँवर को अपने हाथों पर झेलने के लिए मंत्री अपने दोनों हाथ फैलाता है।

मंत्री पूरे उत्साह से कुमार को हाथों पर झेलने की चेष्टा करता है, किन्तु हाथों में तो वायवी अवकाश ही आती दिखाई देती है। मंत्री की आँखें खुल जाती हैं और उसे प्रतीत होता है कि अभी जो कुछ देखा, सत्य नहीं, स्वप्न है।

४. संस्कार की जागृति

हस्तिनापुर महाराज सोमप्रभ की राजधानी थी। उसके निर्मित सुन्दर राजप्रासाद के एक गवाक्ष में महाराज, राजकुमार और मंत्री—तीनों बैठ कर गंभीर विचार में निमग्न हैं। एक ही रात्रि में, तीनों राजपुरुषों को एक साथ अद्भुत स्वप्न दिखाई दिये हैं। यह एक विशेष घटना है जो अर्थ शून्य नहीं हो सकती। यह स्वप्न आखिर क्या इंगित करते हैं? यही चर्चा का प्रधान विषय था।

राजकुमार श्रेयांस की निगाह राजपथ पर थी। यकायक उन्हें भगवान् आदिनाथ अटन करते हुए दिखाई दिये। गंभीर गति से वे अग्रसर हो रहे थे। आत्मसाधना का निगूढ़तम रहस्य वे प्राप्त कर चुके हैं, यह बात उनका ललाट प्रकट कर रहा था। चेहरे पर अतिशय सात्विक भाव विराजमान था। तपस्या के देदीप्यमान तेज से वे आलोकित हो रहे थे।

भगवान् ऋषभदेव उस युग के प्रधानतम पुरुषपुंगव थे। कौन अभागा ऐसा होगा जो उन्हें न पहचानता हो और उनके चरणों में असीम श्रद्धा के बहुमूल्य सुमन न समर्पित करता हो। श्रेयांस कुमार भी उन्हें पहचानते थे। अतएव ज्योंही भगवान् पर उनकी दृष्टि पड़ी, कुमार का हृदय अपरिमित आनन्द और उल्लास से परिपूर्ण हो गया। वे टकटकी लगा कर भगवान् के भव्य चेहरे की ओर देखने लगे।

श्रेयांस के आज के देखने में कुछ अपूर्वता थी। कुमार

का मूलोच्छेदन कर दिया। मेरा (श्रेयांस का) जीव वज्रनाभ का साथी था। जब षट्खण्ड की विभूति का परित्याग करके वज्रनाभ चक्रवर्त्ती ने दीक्षा ली, तब स्वामी-भक्त सारथी ने भी उनका अनुसरण किया। वह भी संसार से विरक्त होकर संयम के पथ का पथिक बन गया।

वज्रनाभ का जीव पूर्वभव में श्रेयांस कुमार का गुरु था और इस भव में पितामह। पितामह ने इस भव में चारित्र अंगीकार किया है। चारित्रवान् मुनि को निर्दोष आहार दान कैसे दिया जाता है, यह बात श्रेयांस कुमार को विदित हो गई। जाति स्मरण ज्ञान ने आत्मा पर पड़े पर्दे को हटा दिया। पूर्वबद्ध संस्कार भगवान् के दर्शन से जागृत हो उठे।

यह वही समय था जब भगवान् को जगत्पिता और महान् पुरुष जान कर लोग बहुमूल्य पदार्थ भेंट करने को उद्यत होते थे। किसी को मुनिदान की विधि का ज्ञान नहीं था। सब लोग बड़े को बड़ी चीज़ ही देना चाहते थे। रोटी पानी जैसी २ तुच्छ वस्तु के देने में मान-सन्मान और भक्ति की न्यूनता समझते थे। पर भगवान् को किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें सामान्य भोजन-पानी अपेक्षित था। उसी की खोज में वे अटन कर रहे थे।

आज भी भगवान् एक घर से दूसरे घर जा रहे थे कि अकस्मात् श्रेयांस की दृष्टि उन पर जा पड़ी।

भगवान् को देख कर और जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त करके राजकुमार श्रेयांस रात्रि के स्वप्न का असली आशय समझ

महाविदेह क्षेत्र को जातिस्मरण से जान और देख लिया। प्राणी मात्र में यह शक्ति विद्यमान है। विशेष क्षयोपशम होने पर और ऊहापोह करने पर पूर्व भवों की बात जानी जा सकती है।

भूगोल वेत्ताओं के कथनानुसार अमेरिका इस पृथ्वी के ठीक नीचे है। अमेरिका और भारत के बीच घने ठोस हजारों कोस मोटा पृथ्वी का आवरण है। तथापि जो व्यक्ति अमेरिका देख कर आया है, वह पुरुष भारत में स्थित होकर अमेरिका में देखी हुई प्रदर्शिनी को अपने मति ज्ञान से देखता-जानता है। यद्यपि समय का अंतर है और स्थान का भी, तथापि इन आवरणों को चीर कर मनुष्य का ज्ञान पूर्वदृष्ट पदार्थों को मति-ज्ञान के द्वारा जानता ही है। जैसे सौ-पचास वर्ष की अनुभूत बात को जान लेता है, उसी प्रकार असंख्यात वर्ष की बात को भी जान सकता है। बस, शर्त यही है कि बीच में मन का विच्छेद न हुआ हो, अर्थात् असंज्ञी पर्याय में उत्पन्न न हुआ हो।

मान लीजिए, एक जीव संज्ञी है। वह मर कर असंज्ञी हो गया और अकस्मात् उसी जगह आ पहुँचा जिस जगह पहले था। यहाँ स्थान का अन्तर नहीं है और काल का भी अन्तर थोड़ा-सा है, किन्तु जानने वाला मन उसे प्राप्त नहीं है। इस कारण वह अपनी पूर्वकालीन स्थिति को नहीं जान सकता। हाँ, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, यदि संज्ञी जीव मर कर संज्ञी होता रहे तो फिर असंख्यात वर्ष के बाद भी और असंख्य योजन की दूरी होने पर भी उसे जाति स्मरण ज्ञान हो सकता

। अनुकूल निमित्त मिलने पर पूर्वस्मृति जागृत होती हुई
ाज भी देखी जाती है।

श्रेयांसकुमार ने इसी ज्ञान के द्वारा अपने पूर्वजन्मों को
ान लिया। संयमविधि के संस्कार उनके हृदयपट पर जागृत
ो उठे। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे वह महाविदेह क्षेत्र
ं प्रस्थान करके भ्रमण करता हुआ, देवलोक की छटा का
वलोकन करता हुआ हस्तिनापुर में आ टिका हो।

७

दान धर्म की प्रतिष्ठा
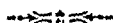
वैशाख का महीना और शुक्ल पक्ष का तीसरा दिन था। सूर्य आकाश में गमन करता हुआ अपनी यात्रा का आधा भाग पार कर चुका था। एक छोर से दूसरे छोर तक वायुमंडल सन्तापमय हो रहा था। ऐसे समय में भगवान् ऋषभदेव वर्षी तप का पारणा करने के हेतु भिक्षाटन कर रहे थे। अनेक कुलों में भ्रमण करते हुए वे राजा सोमप्रभ के द्वार पर पधारे।

जातिस्मरण ज्ञान से सम्पन्न राजकुमार श्रेयांस प्रभु के शुभागमन से अत्यन्त हर्षित हुआ। उसके मन का कण-कण विकसित हो उठा। रग रग में अपूर्व आनन्द की ऊर्मियाँ उठने लगीं। अद्भुत उल्लास से उसका चेहरा खिल गया। रोम-रोम पुलकित हो गया। भगवान् का दर्शन होते ही वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। सात-आठ कदम भगवान् के सामने आया। उसने मुख पर उत्तरासंग किया। 'तिक्खुत्तो' का पाठ उच्चारण करके विधिपूर्वक वन्दना-नमस्कार किया। तत्पश्चात् हर्ष से

निराहार रहे थे। आज उन्हें विधिपूर्वक आहार मिला। यह कोई साधारण बात नहीं थी।

परन्तु इस दिन का महत्त्व सिर्फ इस कारण नहीं कि भगवान् को आहार की प्राप्ति हुई। ऐसा होता तो वैशाख शुक्ला तृतीया 'अक्षयतृतीया' न बनती। प्रति वर्ष महान् पर्व के रूप में उसका स्मरण न किया जाता।

वस्तुतः अक्षयतृतीया की महत्ता बहुत व्यापक है। यह दानधर्म की प्रवृत्ति का पावन दिन है। जिन महापुरुषों ने गृहस्थी का त्याग करके, पकाने-बनाने की चिन्ता से दूर होकर एकाग्र भाव से आत्मसाधना के व्रत को अंगीकार किया है और साधना के साधन के रूप में जो जगत् को सद्बोध प्रदान करते रहते हैं, जो विश्व में आध्यात्मिकता की आलोकमयी ज्योति जागृत रखते हैं, जिनकी समस्त शक्तियाँ स्व और पर के विशुद्ध कल्याण के निमित्त समर्पित हैं और जो आरंभ एवं परिग्रह के पूर्णरूपेण त्यागी बन चुके हैं, उनकी आवश्यकताओं की, जो अत्यल्प होती हैं और किसी के लिये भी भारभूत नहीं होती, पूर्त्ति करना गृहस्थ का पवित्र और प्रमुख कर्त्तव्य है। ऐसे त्यागी महापुरुषों की आवश्कताओं को पूर्ण करना वास्तव में जगत् की सेवा करना ही है, क्योंकि वे आहार आदि लेकर प्राप्त हुई शक्तियों का जगत्-कल्याण के कार्य में ही उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त जैसे उत्तम और उर्वरा भूमि में बोया हुआ बीज अनेक गुणा फल देता है, उसी प्रकार मुनि जैसे उत्तम पात्र को प्रदान किया हुआ दान भी दाता को अनेक गुणा फल देता है, इस दृष्टि से ठीक ही कहा गया है:—

किं द्रव्येण कुबेरस्य, किं समुद्रस्य वारिणा ।
किं गृहेण गृहस्थस्य, भुक्तिर्यत्र न योगिनाम् ॥

अर्थात्—जिस घर में योगी जनों को आहारदान नहीं दिया जाता, वह गृहस्थ का घर व्यर्थ है। उस घर में अगर कुबेर की भी सम्पदा हो तो भी उसका कोई महत्त्व नहीं है। सागर में अतीव जलराशि एकत्र हो जाती है, मगर वह किसी के पीने के काम नहीं आती। फिर उसकी उपयोगिता ही क्या है? अभिप्राय यह है कि गृहस्थ का वही घर सार्थक है जहाँ संयमपरायण मुनियों को आहारदान दिया जाता हो।

आहारदान की हमारे यहाँ के विद्वानों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। कहा है:—

सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्,
सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानम् ।
सर्वेषु पेयेषु पयः प्रधानम्,
सर्वौषधीनामशनं प्रधानम् ॥

जैसे शरीर के सब अंगों में मस्तक प्रधान है, सब इन्द्रियों में नेत्र प्रधान है और सभी पेयों में पय की प्रधानता है, इसी प्रकार सब औषधियों में अशन (भोजन) प्रधान है। जो वस्तु प्रधान है उसी का दान प्रधान होता है। इस कारण आहारदान प्रधान है।

आवश्यकता उत्पादन का साधन है। उत्पादन आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है। तथापि ज्यों-ज्यों समय में परिवर्त्तन होता है, भावना और आकांक्षा बदलती जाती है, त्यों त्यों आवश्यकताओं में भी रूपान्तर होता रहता है। फिर भी सत्य सदा शाश्वत है। अक्षयतृतीया के उस दिन दान को जो महत्त्व प्राप्त हुआ वह शाश्वत के साथ विश्वव्यापक भी है। किसी न किसी रूप में प्रत्येक देश, जाति और समाज के लिए वह वरदान रूप है। इसके अभाव में महान से महान् राष्ट्र भी दीवालिया है। विपुल कलाकौशल और भौतिक विज्ञान तो बाह्य साधन हैं। अन्तर्देव के दर्शन तो दान के प्रभाव से ही हो सकते हैं।

दान की प्रणाली का जगत् में अद्वितीय माहात्म्य है। दान परकीय प्राणी के प्रति हमारी समवेदना की सक्रिय अभिव्यक्ति है। अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली कोमल अनुभूतियों की सक्रियता है। करुणा की चरितार्थता है। दान से मोह-ममता की न्यूनता होती है। वह त्यागवृत्ति सिखलाता है। मनुष्य का दूसरे प्राणी के साथ आत्मीयता का संबन्ध जोड़ने वाला और परलोक में सुख का साधन बनने वाला दान ही प्रधान है। इसी कारण चतुर्विध धर्मों में पहला स्थान दान को दिया गया है। सचाई तो यह है कि दान के अभाव में धर्म की प्रतिष्ठा ही संभव नहीं है। बिना दान के मुनि चारित्र का पालन ही नहीं कर सकते तो धर्म की स्थापना का प्रश्न ही कहाँ उठ सकता है!

'अक्षयतृतीया' नाम के सम्बन्ध में उक्त परम्परा के अतिरिक्त और भी कई परम्पराएँ हैं। वह इस प्रकार हैः—

कहावत है—दुनिया रोटी खाए घर की और बात करे पर की। लोग काम करते हैं तो उसका पारिश्रमिक माँग लेते हैं, किन्तु टीकाटिप्पणी करने की मज़दूरी आज तक किसी ने किसी से नहीं माँगी। यही नहीं, मजदूरी न मिलने पर भी लोग दूसरों की टीका-टिप्पणी करने में इतने उत्साहवान् होते हैं कि न पूछिए बात !

साधारण मनुष्य की ही टीका-टिप्पणी होती हो और असाधारण महान् पुरुष जनता की टीका-टिप्पणी से बचे रहते हों सो बात नहीं। जगत् के प्राचीन से प्राचीन इतिहास को देखिए, चाहे नवीन इतिहास का अध्ययन कीजिए, प्रत्येक युग के महान् से महान् पुरुष भी किसी न किसी की आलोचना के लक्ष्य हुए अवश्य प्रतीत होंगे। ऐसी स्थिति में अगर भगवान् आदिनाथ भी उससे न बच सके तो क्या आश्चर्य की बात है ?

श्रेयांस कुमार के हाथ से आहार लेने की बात आई तो लोग कहने लगे भगवान् ने घर छोड़ा, जर छोड़ा और संसार का समस्त सुख छोड़ा; परन्तु अपने-पराये का भेदभाव न छोड़ा ! दूसरे लोग उन्हें बहुमूल्य वस्तुएँ प्रदान करने के लिए उद्यत थे। कोई हाथी, कोई घोड़ा, कोई पालकी, कोई हीरा, कोई पन्ना और कोई अनमोल मोती देने के लिए उत्कंठित था। परन्तु भगवान् ने किसी की भेंट स्वीकार नहीं की। किसी से स्नेह के दो शब्द भी न कहे-कुछ उत्तर ही नहीं दिया। आज

हैं। स्वावलम्बन की भावना को नष्ट करती हैं। मनुष्य के पुरुषार्थ और पराक्रम को कम करती हैं। साथ ही इन सवारियों के कारण सैकड़ों प्रकार की दूसरी चिन्ताएँ करनी पड़ती हैं। हाथी-घोड़ा रक्खें तो उसे सँभालने के लिए सेवक भी चाहिए। घास-पानी की व्यवस्था भी करनी चाहिए। उस व्यवस्था के लिए गांठ में दाम भी रखने चाहिए। दाम पाने के लिए दूसरे काम करने चाहिए। दूसरे कामों के लिए औज़ार चाहिए। इस प्रकार की झंझटों में पड़ जाने वाले त्यागी और भोगी गृहस्थ में क्या अन्तर रह जाएगा ? अतएव भगवान् ने इन सब वस्तुओं का त्याग कर दिया है।

भगवान् वनस्पतिकाय के फल-फूलों में रहने वाले प्राणियों पर भी दयाशील हैं। इस कारण उनको स्पर्श भी नहीं करते। इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के स्पर्श वाली वस्तु को नहीं ले सकते। भगवान इन सब के स्पर्श से रहित भोजन-पानी ही लेते हैं। मगर वह उनके निमित्त तैयार किया हुआ नहीं होना चाहिए। हम लोग अपने स्वयं के लिए जो भोजन बनाते हैं, उसमें से वे ले सकते हैं।

श्रेयांस कुमार ने आगे कहा—आप लोगों में से जो भी इस विधि से आहार देगा, भगवान आवश्यकता होने पर उसे अवश्य ग्रहण करेंगे। इस विधि से प्रभु अपने १०८ गुणों की रक्षा करते हैं। उन्होंने दैहिक कठिनाइयाँ सहन करके भी अपने गुणों को अखण्ड रक्खा है।

दुःख की परछाई भी किसी ने नहीं देखी थी। सब नर-नारी मनोवांछित सुख का उपभोग करते थे। जन्म, जरा और मरण के दुःख की किसी को अनुभूति नहीं होने पाई थी। परन्तु जब से कल्पवृक्षों ने फल देना बन्द कर दिया, तब से सभी लोग भविष्य की चिन्ता से व्याकुल हो गये और दुःख का अनुभव करने लगे। उसी समय आदिनाथ भगवान् ने इस दुःख से बचने का मार्ग दिखला दिया। तत्कालीन प्रजा को सब प्रकार के सुख सुलभ कर दिये। कुछ दिनों तक लोग उन सुखों का उपभोग करते रहे और दुःख की बात भूल गए।

मगर एक दिन आया कि सुखदाता ऋषभदेव ने सांसारिक भोगोपभोगों को तृण की तरह त्याग दिया। जिसे साधारण जन सुख समझ रहे थे, भगवान् ने उसे विष समझ कर वमन कर दिया। इस घटना ने जनता के सामने एक नवीन समस्या उपस्थित कर दी। विचारधारा को एक नूतन दिशा मिली। और उसके फलस्वरूप मनुष्य भयभीत हो गये। सोचने लगे—यह सुख सच्चा सुख नहीं जान पड़ता, अन्यथा भगवान् क्यों इसका परित्याग करते? भगवान् को रोगों का भय है, जरा की भीति है। विकराल काल-व्याल के दंशन का डर है। भगवान् को यमपुरी की पुकार का भय है। यमराज के अतिथि होने की कल्पना उन्हें भयभीत कर रही है। एक दिन भगवान् का शरीर क्षीण हो जायगा। जब देवों और देवेन्द्रों द्वारा सेवित भगवान् का शरीर भी नहीं रह सकता तो फिर अब का कौन साधारण जन का शरीर कैसे रह सकेगा?

इस प्रकार के विचार से लोगों में भय की नई भावना

दुःख की परछाई भी किसी ने नहीं देखी थी। सब नर-नारी मनोवांछित सुख का उपभोग करते थे। जन्म, जरा और मरण के दुःख की किसी को अनुभूति नहीं होने पाई थी। परन्तु जब से कल्पवृक्षों ने फल देना बंद कर दिया, तब से सभी लोग भविष्य की चिन्ता से व्याकुल हो गये और दुःख का अनुभव करने लगे। उसी समय आदिनाथ भगवान् ने इस दुःख से बचने का मार्ग दिखला दिया। तत्कालीन प्रजा को सब प्रकार के सुख सुलभ कर दिये। कुछ दिनों तक लोग उन सुखों का उपभोग करते रहे और दुःख की बात भूल गए।

मगर एक दिन आया कि सुखदाता ऋषभदेव ने सांसारिक भोगोपभोगों को तृण की तरह त्याग दिया। जिसे साधारण जन सुख समझ रहे थे, भगवान् ने उसे विष समझ कर वमन कर दिया। इस घटना ने जनता के सामने एक नवीन समस्या उपस्थित कर दी। विचारधारा को एक नूतन दिशा मिली। और उसके फलस्वरूप मनुष्य भयभीत हो गये। सोचने लगे—यह सुख सच्चा सुख नहीं जान पड़ता, अन्यथा भगवान् क्यों इसका परित्याग करते? भगवान् को रोगों का भय है, जरा की भीति है। विकराल काल-व्याल के दंशन का डर है। भगवान् को यमपुरी की पुकार का भय है। यमराज के अतिथि होने की कल्पना उन्हें भयभीत कर रही है। एक दिन भगवान् का शरीर क्षीण हो जाएगा। जब देवों और देवेन्द्रों द्वारा सेवित भगवान् का शरीर भी नहीं रह सकता तो फिर अन्न का कीट साधारण जन का शरीर कैसे रह सकेगा?

इस प्रकार के विचार से लोगों में भय की नई भावना

अविनाशमय स्थिति पर पहुंचाने वाला था। उसमें व्यवसाय का भाव न था। किसी को पराजित करने का उद्देश्य नहीं था। वह तो क्षण-क्षण में क्षीण होने वाले शरीर के बदले अक्षय स्वरूप की प्राप्ति का अनोखा साधन था।

व्यामोह, बन्धन और ममता की मायामयी भावना ने आत्म-देव को स्वरूपच्युत कर रक्खा है। उसे अपने विशुद्ध स्वरूप में लाने के लिए आसक्ति के कारागार को तोड़ देना होगा। बहिर्दृष्टि का परित्याग करके जीवन के आन्तरिक क्षेत्र में प्रवेश करना ही इसका एक मात्र उपाय है। यही सोचकर आदिनाथ अपनी साधना में समग्र रूप से व्यग्र थे।

प्रत्येक वस्तु अपने मूल रूप में शुद्ध ही होती है। उसमें अशुद्धि आने का कारण पर-संयोग है। पर का संयोग हुए बिना कोई भी वस्तु अपने स्वभाव से च्युत होकर विकृत नहीं हो सकती। इस सर्वव्यापी नियम के अनुसार आत्मा की विकृति भी परसापेक्ष है। उस 'पर' को समझ लेना, पर संयोग के कारणों को जान लेना, उन कारणों को दूर करना और फिर आत्मा को असली स्वरूप में लाना यही भगवान् की साधना का मूल मन्त्र था। भगवान् ने ममता-व्यामोह एवं मूर्छा को-चाहे वह शरीर के प्रति हो अथवा अन्य भौतिक पदार्थों के प्रति-जन्म-मरण का मूल कारण ठहराया। इन मूल कारणों को क्षीण करने के लिए तपश्चर्या की रामबाण औषध का अपने ऊपर ही प्रयोग किया। अन्त में उनका प्रयोग सफल हुआ। वे

१
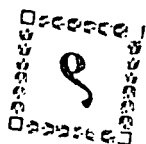
पर्व और त्यौहार
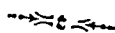
जिन लोगों के पास प्रचुर साधन सामग्री है, जिन्हें भोगो-
पभोग के सब साधन सुलभ हैं, जो ऐश्वर्य की गोद में खिलवाड़
करते रहते हैं और जिन्हें मोहर कौड़ी के बराबर है, उनके लिए
क्या वार और क्या त्यौहार ! उनके लिए तो तीसों दिन त्यौहार
है। परन्तु जो निर्धन हैं, जिनका पेट पीठ से लगा रहता है,
जिनकी जठराग्नि सदा प्रज्वलित रहती है, जिन्हें सांझ को रूखी
रोटियाँ मिल गईं तो सुबह का ठिकाना नहीं है, उनके लिए तो
त्यौहार जीवन की एक बड़ी बहार है।

मगर त्यौहार और पर्व में बड़ा अन्तर है। त्यौहार
लौकिक सुख की बहार है तो पर्व पारलौकिक सुख-साधन का
अवसर है। त्यौहार के दिन खान-पान और मौज शौक की प्रधा-
नता रहती है। बाह्य आडम्बर का प्रदर्शन किया जाता है।
ऊपर-ऊपर कमाई की जाती है। इस प्रकार त्यौहार के दिन
लौकिक क्रियाकाण्ड खूब फलता-फूलता है।

पर्व-दिन इससे भिन्न प्रकार का होता है। इस दिन संयम, इन्द्रिय निग्रह, सादगी, त्याग, ब्रह्मचर्य, तपस्या आदि सात्विक भावनाओं का विशेष रूप से पोषण किया जाता है। पर्व के दिन किया जाने वाला अनुष्ठान आत्मानुलक्षी होता है। इस प्रकार त्यौहार रजोगुणप्रधान और कभी-कभी तमोगुण-प्रधान भी होता है, जब कि पर्व के दिन सात्विकता का साम्राज्य होता है।

त्यौहार मानव की स्वतः निरंकुश मनोवृत्तियों को और अधिक उच्छृंखल बनाता है, पर्व उन पर अंकुश रखने की प्रेरणा करता है। त्यौहार इह-जीवन को क्षणिक आनन्द प्रदान करने वाला है, पर्व नित्य आनन्द की झांकी दिखलाता है।

का जीवन भारभूत हो जाता। उनके जीवन में आशाविहीन दौड़धूप के अतिरिक्त और क्या शेष रह जाता ?

इसी प्रकार लौकिक दृष्टि से त्योहार का जो महत्त्व है, वही पारलौकिक दृष्टि से पर्व का महत्त्व है।

क्रूरकर्मा, कर्मों के कीचड़ में आकंठ निमग्न, विषय-वासना के कीट, इन्द्रियों के गुलाम, भोगासक्त और मोह-ममता में लिप्त रहने वाले लोग भी कम से कम पर्व के दिन तो थोड़ा-बहुत धर्म-कर्म का आचरण करते ही हैं। नियमों और यमों का अनुष्ठान करने की प्रेरणा उनके अन्तःकरण में भी जागृत होती ही है।

आशय यह है कि लौकिक सुख की दृष्टि से त्यौहार का जैसा महत्त्व है, वैसा ही पारलौकिक सुख एवं उसके साधन रूप यम नियम, धर्म आदि के अनुष्ठान के रूप में पर्व का महत्त्व है। पर्वों की प्रतिष्ठा न की गई होती या विषयवासना में लिप्त, आशा तृष्णा और लालसा के वशवर्त्ती प्रमादी जीवों के जीवन में से पर्व के दिन पृथक् कर दिये जाएँ तो उनका भी जीवन क्या भारभूत नहीं हो जाएगा ? जन्म जरा और मरण के दुःखों के अतिरिक्त प्रमादियों के पल्ले क्या पड़ेगा ?

इस प्रकार त्योहारों और पर्वों का अपना-अपना स्थान है। प्राचीनकाल में, मानवजाति में उत्पन्न हुए निस्पृह और निस्वार्थ पुरुष विचारों का मंथन करके त्यौहार और पर्व के रूप में दो अनमोल रत्न भविष्य की प्रजा की मूल पूंजी में

पर चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है। क्या करना चाहिए यह उसे नहीं सूझता। शरीर की कैद से किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है, यह बात उसकी समझ में नहीं आती। वह नाना प्रकार की विचार धाराओं में बहता हुआ पर्व की सुन्दर छिन्ना पर अटक जाता है।

वह पर्व के संबंध में विचार करता है। चारों ओर तप, त्याग और संयम की बहार उसे नज़र आती है। कोई प्यासे को पानी पिला रहा है, कोई भूखे को भोजन दे रहा है और कोई अट्ठाई तप कर रहा है, किसी ने आरंभ-समारंभ त्याग कर कुछ दिन-रात के लिए साधु-सरीखी वृत्ति अंगीकार की है। कोई स्वाध्याय में, कोई सामायिक में कोई ध्यान में तो कोई भावनाओं में रस ले रहा है। सौभाग्यवती नारियाँ भी शृंगार का परित्याग करके विरक्ति में रम रही हैं। भोगों का त्याग करके त्यागमय जीवन का अभ्यास कर रही हैं। यह सब कुछ प्रत्यक्ष देख कर वह धर्म क्रिया की ओर उन्मुख होता है। उसे तप और त्याग से सन्तोष की प्राप्ति होने लगती है।

पर्व के पवित्र प्रसंग पर जप, तप आदि जो धर्मक्रिया की जाती है, उससे संस्कार अन्तःकरण में स्थायी बनते जाते हैं। अभ्यास से सूक्ष्म आत्मिक बल उत्पन्न होता है। भोगों के त्याग से निस्पृह—निराकुल आत्मानन्द का स्वाद आने लगता है। ज्यों-ज्यों, इस प्रकार से आत्मा की शुद्धि होती है और ज्यों-ज्यों आत्मा की शुद्धि होती है त्यों-त्यों धर्मनिष्ठा की भी वृद्धि होती जाती है। अन्त में भोगों के अभाव से, तप से तन

आत्मा कंचन के समान चमकने लगती है। अज्ञान का अंधकार पलायन कर जाता है। उस प्रकाश में गड़हों से बच कर आत्मा अभ्युदय के उन्नत शिखर की ओर अग्रसर होती जाती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर उन्नति करते-करते प्राणी को परम पद्-अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य यह निकला कि जिस प्रसंग पर आत्मा त्याग, तपस्या नियम, यम, ध्यान, स्वाध्याय आदि पवित्र क्रियाओं का आचरण करके अपने आपको उज्ज्वल बनाता है, वही प॰ कहलाता है।

द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और अमा वस्या-पूर्णिमा तिथियाँ पर्वतिथि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इ॰ तिथियों को क्यों पर्व के रूप में नियत किया गया है, इस प्र॰ का उत्तर देने के लिए विस्तार की आवश्यकता है; तथापि यह संक्षेप में कुछ प्रकाश डालना उचित होगा।

उक्त तिथियों पर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट ज्ञात हो॰ और वह यह कि द्वितीया के बाद दो दिन छोड़ कर पंचमी प॰ पचमी के पश्चात् दो दिन छोड़ कर अष्टमी पर्व, अष्टमी के अन॰ नर दो दिन छोड़ कर एकादशी पर्व और एकादशी के बाद दे॰ दिन छोड़ कर चतुर्दशी पर्व आता है। इस प्रकार काल के द॰ भाग छोड़ कर तीसरे भाग में पर्व की नियुक्ति की गई है। इ॰ क्रम का संबंध नवीन आयु के बंध के साथ है। आगामी भ॰ की आयु जीव वर्त्तमान भव में ही बाँध लेता है। मगर व॰ वर्तमान जीवन के दो भाग बीतने पर तीसरे भाग में बन्धती है

मानव-इतिहास का सब से पुराना पर्व है। इस युग के आदि-काल में ही इसकी स्थापना हो चुकी थी; फिर भी इसके स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, यह पर्व तपस्या और दान धर्म का सम्मिलित पर्व है। और आज भी यह पर्व अपने इसी रूप में मनाया जाता है। १३ मास और ११ दिन पहले वर्षी तप प्रारंभ किया जाता है। इस लम्बी अवधि में उपवास किये जाते हैं। कारणवश बेला और तेला भी करने पड़ते हैं। अक्षयतृतीया के दिन इस तपस्या की पूर्त्ति होती है और इस उपलक्ष्य में दान दिया जाता है।

करोड़ों वर्ष पहले भी इस पर्व का यही रूप था और आज भी यही रूप है। लम्बे अतीत काल में अनेक अन्धड़ आए; बड़े-बड़े उलट-फेर हुए, राजशासन पलट गए, जीवन की पद्धतियों में भी अनेक परिवर्त्तन हो गए, मगर इस पर्व पर काल का असर नहीं हुआ।

दुःखों के दावानल में दग्ध होने वाले प्राणियों को अक्षय, अखंड एवं शाश्वत शान्ति प्रदान करने वाला अक्षयतृतीया पर्व पूर्व पुरुषों की अनमोल देन है। इस पर्व के साथ संकलित युगादि महादेव का यह इतिहास जैन संघ में तब तक सजीव ही रहेगा, जब तक जैन संघ कायम है।

वर्षाकाल के चार महीने विश्व के जीवन-उपवन के प्राण हैं। प्रतिवर्ष वर्षाकाल न आता तो संसार की क्या स्थिति होती, यह कल्पना भी बड़ी भयानक जान पड़ती है। वर्षाकाल संसार के मरुस्थल को नन्दनकानन बना देता है। सारे विश्व को आह-

अक्षयतृतीया सतयुग में भी आती है और कलियुग में भी। अक्षयतृतीया का जो जौहर सतयुग में दिखाई देता है, वही कलियुग में भी। काल का कोई भी प्रहार उसके सामर्थ्य को नष्ट नहीं कर सकता। उसकी शक्ति अमोघ है और सदा-सर्वदा अमोघ ही रहने वाली है।

जो जन्म, जरा और मरण के दुःख को दुःख के रूप में अनुभव करता है जिसे इन दुःखों से छुटकारा पाने की रुचि जागृत हुई है, वही इस पावन पर्व से लाभ उठा सकता है। इस पर्व का संबंध किसी देश, जाति या वर्ण से नहीं, मनुष्य मात्र से है। सभी समान रूप से इसकी आराधना करके सत-युग का सुख और सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं।

कहा जा सकता है कि अक्षयतृतीया की आराधना करना तो इतिहास के आदिकाल में घटित घटना की पुनरावृत्ति करना मात्र है। यह नकल है। नकल करना बुद्धि के उर्वरापन का अभाव स्वीकार करना है। नकल से असल का मूल्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। बहुरूपिया राजा की भी नकल करता है, पर बेचारे के हाथ क्या लगता है? वह क्षण भर के लिए भी तो सोने का सिंहासन नहीं पा सकता!

इस विचार में पूर्ण सत्य का समावेश नहीं होता। सभी नकल सरीखी नहीं होती। नकल से संसार में बड़े-बड़े काम हो रहे हैं। शिक्षक विद्यार्थी की पट्टी पर अक्षर लिख देता है और विद्यार्थी उसकी नकल करता है। प्रारंभ में उसकी नकल भोंडी होती है, परन्तु नकल करते-करते वह सुन्दर अक्षर लिखने

हो जाता है, वही अपनी जन्म-मरण से रक्षा कर सकता है। जगत् के यह दुखिया जीव धर्म का आश्रय ले सकें और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकें. इसी उद्देश्य से धर्म की स्थापना की गई है। जो मनुष्य प्रतिदिन समान रूप से धर्म की आराधना नहीं कर सकते. अथवा जो प्रतिदिन आराधना करते हैं वे विशिष्ट आराधना कर सकें, यही पर्व नियत करने का आशय है।

पहले बतलाये हुए द्वितीया, पंचमी, अष्टमी आदि प्रत्येक पक्ष में आने वाले पर्वों के दिन सामायिक-प्रतिक्रमण, तत्त्व-चिन्तन, प्रभुस्तुति, रसत्याग, उपवास, एकाशन, आयंबिल, दया, पोषध, आदि में से यथारुचि और यथाशक्ति धर्मक्रिया करनी चाहिए। जिन क्रियाओं से मोह की मस्ती और सांसारिक आसक्ति शिथिल हो, उन क्रियाओं के करने में ही पर्व-तिथियों की सार्थकता है।

इन पाक्षिक पर्वों के अतिरिक्त प्रत्येक चौथे महीने के अन्त में चौमासी पर्व आते हैं। कार्त्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा और आषाढ़ी पूर्णिमा, यह तीनों चौमासी पर्व हैं। पाक्षिक पर्वों की अपेक्षा इन चौमासी पर्वों का विशेष महत्त्व है। जो मनुष्य किसी प्रकार की विवशता के कारण पाक्षिक पर्वों का यथाविधि पालन करने में असमर्थ रहे हैं, उन्हें चातुर्मासिक पर्वों के अवसर पर अवश्य ही आत्मकल्याण के अर्थ धर्माराधना करनी चाहिए।

कुछ पर्व ऐसे भी हैं जो वर्ष में केवल एक ही बार आते

भव का पातक-पुंज पराल की भाँति भस्मीभूत होकर आत्मा विशुद्ध कंचन के समान बन जाती है। कल्याण का द्वार खुल जाता है।

पर्व के पावन प्रसंग पर प्रधान वस्तु है-मन की दिशा को मोड़ना। यह चपल मन अनादि काल से विषय-वासना की ओर दौड़ रहा है और विषय-रस में ही आनन्द का अनुभव करता है। असली आत्मिक सुख का स्वाद उसने चखा ही नहीं है। वह उसके माधुर्य से अनभिज्ञ है। यही कारण है कि वह इस ओर प्रवृत्त नहीं होता। पर्व के दिन मन की इसी दिशा को मोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सच है कि मन बड़ा उच्छृंखल है। उसे अभीष्ट दिशा में प्रवृत्त करना सरल काम नहीं है। जितना ही वह छोटा, उतना ही खोटा है। तथापि बार-बार के अभ्यास से उसे मोड़ा जा सकता है।

एक छोटी-सी बस्ती थी। वहाँ कच्ची मिट्टी की दीवारें और घास-फूस के छप्पर ही अधिक दिखाई देते थे। वहाँ के सीधे-सादे लोग श्रद्धाशील थे। तर्क की आंधी में उड़ना उन्होंने सीखा ही नहीं था। वे भाग्य के भरोसे अपना जीवन यापन करते थे।

उस बस्ती में न डॉक्टर थे, न हकीम और न कविराजजी एक काजीजी ही वहाँ सब कुछ थे। वही वैद्य, वही ज्योतिषी और वही मांत्रिक! बस्ती में किसी को कुछ हुआ, वह काजीजी के पास भागा। काजीजी जंतर-मंतर कर दिया करते थे। यही चिकित्सा की चरम सीढ़ी थी। उनका एक मात्र मंत्र यह था—

मियांजी कितने गहरे पानी में थे सो तो मियांजी ही जानें, परन्तु प्रकृति के निरीक्षण से ज्ञानी पुरुष इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को वश में करना ही अधिक कठिन है।

मन, वचन और काय—यह तीन योग कहलाते हैं। इन की क्रिया ही कर्मों के आस्रव का कारण है। इनमें से वचन का निरोध करना कोई बड़ी बात नहीं। मौन धारण करते ही वचन का निरोध हो जाता है। स्थूल शरीर की क्रिया भी अल्प प्रयास से ही रोकी जा सकती है। परन्तु यह सूक्ष्म मन ही ऐसा है जो अत्यन्त कठिनाई से, निरन्तर अभ्यास करने से, रुकता है।

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि मन का वशीभूत होना संभव नहीं है। संभव न होता तो शास्त्रकार उसे वशीभूत करने का उपदेश ही न देते। यही नहीं, प्राचीन काल के अनेक योगी पुरुषों ने अपने मन पर पूर्ण रूप से नियंत्रण पाया है। उनके उदाहरण हमारे हृदय में आशा और विश्वास उत्पन्न करते हैं कि उनके चरण चिन्हों पर चल कर हम भी पूर्ण मनोविजेता बन सकते हैं। अतएव पर्व की आराधना की असली सार्थकता मन पर विजय प्राप्त करने में है और यह तभी हो सकता है जब मन की दिशा बदलने का प्रयास किया जाय।

अक्षयतृतीया पर्व यों तो एक ही दिन का है, किन्तु इसका सीमाविस्तार अन्य सभी पर्वों से अधिक है। अक्षय-

१३
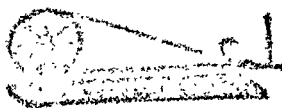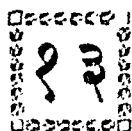
वर्षी तप की विधि
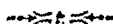
दीनबन्धु भगवान् आदिनाथ संसार की सब यथोचित व्यवस्था करके और अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तरदायित्व सौंप कर पारलौकिक सुख की शोध में घर से निकल पड़े थे। उनके अभिनिष्क्रमण का दिन था-चैत्र कृष्णा अष्टमी। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द प्राप्त करने के लिए भगवान् निरन्तर प्रयत्नशील थे। मन जिसमें रम जाता है वही प्रधान ध्येय बन जाता है और सब बातें गौण बन जाती हैं। भगवान् भूख प्यास भूल गये थे। उनका मन एक मात्र आत्मचिन्तन में लीन था। न चलने में थकावट प्रतीत होती और न रात्रिजागरण से भारीपन। कभी ध्यान में मगन हुए तो रात्रि पर रात्रि बीतती चली गई और कभी चल पड़े तो चलते ही चले गए। सप्ताह पर सप्ताह बीतते गए, पक्ष भी बीत गए; यहाँ तक कि मास के बाद मास भी अतीत के गर्भ में विलीन होने लगे, परन्तु भगवान् के मुख में अन्न का दाना भी नहीं गया; पानी की एक बूंद भी नहीं

उसके बाद असंख्य-असंख्य जीवों ने समय-समय पर वर्षी तप की आराधना करके न केवल अन्तराय कर्म को ही, वरन् समस्त कर्मों को क्षय किया है।

भगवान् जिस काल में भूमण्डल पर विद्यमान थे, वह काल शक्ति की दृष्टि से बहुत उन्नत था। उस समय के सभी मनुष्यों का संहनन मजबूत होता था। उनका शरीर विशिष्ट सामर्थ्यवान् था। जिसका तन सामर्थ्यवान् होता है, उसका मन भी प्रायः सामर्थ्यवान् होता है। फिर भगवान् तो तीर्थङ्कर थे। साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अनेक गुणी शक्ति के धारक थे। वे बिना किसी विशेष कठिनाई के ४०० दिनों का अनशन तप कर सके थे। परन्तु प्रत्येक मनुष्य से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। विशेषतया बाद के युग में, जब कि मनुष्य का शारीरिक गठन अत्यन्त कमज़ोर हो गया और मनोबल में भी उतनी प्रबलता नहीं रही, ठीक इसी प्रकार, इतना लम्बा एवं इतना उग्र तप मनुष्य कर सके, यह संभव नहीं था। इसी कारण ज्यों-ज्यों समय पलटता गया, वर्षी तप की विधि में भी परिवर्त्तन होता गया है। निम्नलिखित विधि आज प्रचलित है, जो भव्य जीवों के कल्याण का साधन है:—

चैत्र कृष्णा ८ के दिन वर्षी तप को प्रारंभ करना चाहिए और १३ मास ११ दिन के पश्चात् वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन पारणा !

जो व्यक्ति आदि से अन्त तक क्षुधा न सह सकें, वे बेले-बेले पारणा कर सकते हैं और जो इतना करने में भी असमर्थ

भगवान् असाधारण शक्ति से सम्पन्न थे और उनके शरीर की अवगाहना भी बहुत बड़ी थी। वे इतना उग्र तप करके भी १०८ घटिका रस का पान कर सके थे। आजकल के तपस्वी वैसा नहीं कर सकते। अतः अपनी शक्ति के अनुसार घटिका माप छोटा करके १०८ घटिका रसपान करे।

इक्षुरस अन्तर्मुहूर्त्त (४८ मिनिट के अन्दर-अन्दर) तक सचित्त रहता है और तीसरे पहर में पुनः सचित्त हो जाता है। वर्षी-तपधारी को चाहिए कि पारणा के दिन सचित्त रस का पान न करे।

प्रतिदिन "श्री ऋषभदेवाय नमः" इस मंत्र का २१६० जाप करे।

वर्षी तप का आशय है अन्तराय कर्म का नाश करना और रत्नत्रय की प्राप्ति करना। रत्नत्रय की प्राप्ति आत्मरमण में है और बाह्य भोगोपभोगों के प्रति अनासक्त होने में है। रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए अठारह पापस्थानों का त्याग करना चाहिए और निम्नलिखित अनुष्ठान प्रतिदिन करना चाहिए:—

१—प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण करना।

२. परिमित भाण्डोपकरण रखना और उनका प्रतिलेखन करना।

३—प्रातः सायं और मध्याह्न में तीनों काल प्रभुस्मरण करना।

से अधिक समय धार्मिक क्रियाओं में व्यय करे-आरंभसमारंभ का त्याग करे।

१३--पारणा के दिन सादा और सात्विक भोजन करे। रसलोलुप बन कर खान पान की सामग्री का न बखान करें और न उससे घृणा ही करे। जो भी भोज्य पदार्थ मिले, उसे समभाव से भोगे। परन्तु जूठन न छोड़े। पहले से ही भोज्य-सामग्री अधिक न ले।

१४--आलस्य एवं प्रमाद का त्याग करके, उत्साह-पूर्वक समय पर धर्मक्रिया का सेवन करे। भावपूर्वक की हुई धर्मक्रिया ही फलप्रद सिद्ध होती है।

१५--प्राणीमात्र सुख का अभिलाषी है। प्रत्येक जीव को अपना-अपना जीवन प्रिय है मृत्यु सभी को अप्रिय एवं अनिष्ट है। इष्टप्राप्ति के लिए की गई अपनी साधना किसी के लिए दुखदायी न हो, इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए। हम दूसरे प्राणियों को सुखी कर सकें तो अच्छा; कम से कम दुखी तो न करें।

१६—बाह्य त्याग के साथ आन्तरिक त्याग भी होना आवश्यक है। ममता-मूर्च्छा, संचयवृत्ति आदि मानसिक कालुष्य बना रहे तो बाह्य त्याग विशेष फलदायक नहीं होता। अतएव अपनी मनोवृत्तियों को शुद्ध रखना आवश्यक है। वर्षी तप की आराधना का अर्थ है भगवान आदिनाथ के अनुष्ठान का अनुकरण करना। जिस प्रकार भगवान् आदिनाथ ने शान्ति

रहना चाहिए। अनशन करके काया को कृश कर लेने मात्र से आत्मा निर्मल नहीं होती। अनशन तप इन्द्रियों की प्रचंडता को रोकने के लिए है। पर इन्द्रियों की प्रचंडता को रोक करके भी जब तक मन को शुभ और शुद्ध व्यापार में न लगाया जाय तब तक उस तपस्या का आत्मशुद्धि के दृष्टिकोण से क्या महत्त्व है?

बाह्य तप साधन और अंतरंग तप साध्य है। साधन का प्रयोग करके साधक को साध्य की सिद्धि करनी चाहिए, साधन में ही नहीं अटक रहना चाहिए। इस बात को ध्यान में रखकर वर्षी तप किया जाएगा तो उससे तप करने वाले को पूरा और वास्तविक लाभ प्राप्त होगा।

उपसंहार

या इन्द्रियशोषण ही नहीं है, बल्कि वह आत्मिक भावों के विकास का कारण है। अन्य परम्पराओं में तप की ऐसी व्यापक व्याख्या नहीं मिलती। यहाँ ध्यान भी तप है, जो भी कार्य कर्मनिर्जरा के लिए किया जाता है, वह सब तप है।

आत्मविशुद्धि के लिए तप की अनिवार्य आवश्यकता है। अनादि काल से आत्मा में मलिनता चली आ रही है। उस संचित मलिनता को दूर किये विना मुक्ति नहीं मिलती और मलिनता को दूर करने का प्रधान उपाय तपस्या ही है। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में तप की बड़ी महिमा गाई गई है। कहा है—

> मलं स्वर्णगतं वह्निर्हंसः क्षीरगतं जलम्।
> यथा पृथक्करोत्येवं, जन्तोः कर्ममलं तपः॥

अर्थात्--जैसे सोने के मल को अग्नि दूर कर देती है और दूध में मिले हुए पानी को हंस अलग कर देता है, उसी प्रकार जीव के कर्म-मल को तप दूर कर देता है।

जैन परम्परा में जो सन्त महात्मा हुए हैं, उन्होंने बड़ी-बड़ी तपस्या की है। भगवान् आदिनाथ की तपस्या का उल्लेख किया ही जा चुका है। भगवान् महावीर के जीवनचरित को देखिए तो विदित होगा कि उनका समग्र जीवन भी घोर तपस्यामय रहा है। फिर भी यह अनिवार्य नहीं कि प्रत्येक साधक को उतनी तपस्या करनी चाहिए। हाँ, अपनी शक्ति को न छिपाते हुए यथोचित तप करना प्रत्येक आत्मशोधक का कर्त्तव्य है। तपस्या ही कर्मों से छुटकारा पाने का मुख्य उपाय है।

नहीं है। आत्मा कर्मों को मार करके ही उनकी मार से बचने में समर्थ हो सकता है।

अक्षयतृतीया कहती है— सब को मारने वाला कर्म भी अमर नहीं है। तपस्या के द्वारा उसे भी मारा जा सकता है। तप में ऐसी शक्ति है कि कोटि-कोटि भवों के संचित कर्म उसके प्रयोग से सहज ही नष्ट किये जा सकते हैं। अतएव अपने बल-पराक्रम को बढ़ाओ। अपनी शक्ति का उपयोग करो और तपस्या करने में संकोच न करो।

आशा-तृष्णा एवं लोभ-लालच के प्रगाढ़ बन्धनों में बद्ध प्राणी मोह-ममता का पूरी तरह त्याग कर सके तो श्रेयस्कर है; कदाचित् न कर सके तो जीवन में कम से कम एक बार तो वर्षी तप की आराधना करे! अक्षयतृतीया प्राणी मात्र को यही आदेश देने के लिए प्रतिवर्ष आती है।

अक्षयतृतीया आत्मा की समभूमि में तप की वह सुन्दर फसल ले आती है जो आत्मा को सकल फलों से सम्पन्न बना देती है। अनुकूल मौसिम के अभाव में भूमि कुछ दिनों तक यों ही पड़ी रह सकती है, किन्तु इससे भूमि का उर्वरापन नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार पंचम काल के प्रभाव से आत्मा फलों से सम्पन्न न बन सके तो चिन्ता की बात नहीं। सुदिन आएंगे और आत्मा की भूमि में यही अक्षयतृतीया तप की सुन्दर फसल ले आएगी और तब आत्मा सकल अभीष्ट फलों से सम्पन्न बन जाएगा।

अक्षयतृतीया पर्व जैसे तप का प्रतीक है, उसी प्रकार दान का भी प्रतीक है। पहले बतलाया जा चुका है कि दानधर्म स्व और पर के कल्याण की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। जिस वस्तु का दान दिया जाता है, उस पर से दाता की ममता छूट जाती है। जितने अंशों में ममता कम होती है, उतने ही अंशों में आत्मा की आकुलता कम होती है। ज्यों-ज्यों आकुलता कम होती है त्यों-त्यों शान्ति और समाधि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दान से आत्मा का एकान्त हित होता है।

जिस जीव को दान मिलता है, उसका भी उपकार होता है। जो भयभीत प्राणी अभय पा लेता है, जो भूखा-प्यासा भोजन-पानी प्राप्त कर लेता है, जिस रोगी को औषध का लाभ हो जाता है, जिस जिज्ञासु को ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उसे सन्तोष और सुख मिलता है।

संसार में सभी प्राणी समान परिस्थिति वाले नहीं हैं। अपने-अपने कर्म के उदय रूप अन्तरंग कारण से तथा सामाजिक व्यवस्था रूप बाह्य कारण से सब की परिस्थिति भिन्न-भिन्न होती है। कोई मनुष्य एक वस्तु के अभाव में घोर कष्ट पाता है तो दूसरे के पास वही वस्तु प्रचुर परिमाण में विद्यमान होती है और फालतू पड़ी रहती है। ऐसी स्थिति में अगर उस वस्तु का आदान-प्रदान हो जाय तो कितनी सुन्दर बात हो! जीवों को परस्पर में एक दूसरे का उपकारक और सहायक होना चाहिए। जब इस लौकिक दृष्टि से विचार किया जाता है तो दान की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

हाँ, जो गृहस्थ सम्पन्न हैं और जिनके पास दान देने योग्य बहुत सामग्री है, उन्हें दान देने में कृपणता भी नहीं करनी चाहिए। गृहस्थ को सदैव आरंभ-समारंभ करना पड़ता है और आरंभ-समारंभ से पाप का उपार्जन होता है। उस पाप को दूर करने का उपाय दान देना है। यह समझ कर गृहस्थ को प्रतिदिन यथाशक्ति दान करना चाहिए। जिन गृहस्थों को त्यागी-महात्माओं का सुयोग मिलता है, वे धन्य हैं। जिन्हें ऐसा योग न मिले उन्हें अपने साधर्मी भाइयों को लाभ पहुँचाना चाहिए और दीन, हीन, निराधार जनों को भोजन आदि देना चाहिए। अनुकम्पा दान किसी के लिए निषिद्ध नहीं है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को बहुमूल्य जीवन प्राप्त करके पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। उस लाभ को प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन तपश्चरण है। तपश्चरण के नाना रूप हैं और उनमें एक विशिष्ट रूप वर्षी तप है। वर्षी तप अक्षयतृतीया को निमित्त बना कर किया जाता है, अतएव अक्षयतृतीया की आराधना करके अपनी रत्नत्रयी को अक्षय बनाना चाहिए और अक्षय सुख का भागी होना चाहिए। यही अक्षयतृतीया का मुख्य संदेश है।

हाँ, जो गृहस्थ सम्पन्न हैं और जिनके पास दान देने योग्य बहुत सामग्री है, उन्हें दान देने में कृपणता भी नहीं करनी चाहिए। गृहस्थ को सदैव आरंभ-समारंभ करना पड़ता है और आरंभ-समारंभ से पाप का उपार्जन होता है। उस पाप को दूर करने का उपाय दान देना है। यह समझ कर गृहस्थ को प्रतिदिन यथाशक्ति दान करना चाहिए। जिन गृहस्थों को त्यागी-महात्माओं का सुयोग मिलता है, वे धन्य हैं। जिन्हें ऐसा योग न मिले उन्हें अपने साधर्मी भाइयों को लाभ पहुँचाना चाहिए और दीन, हीन, निराधार जनों को भोजन आदि देना चाहिए। अनुकम्पा दान किसी के लिए निषिद्ध नहीं है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को बहुमूल्य जीवन प्राप्त करके पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। उस लाभ को प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन तपश्चरण है। तपश्चरण के नाना रूप हैं और उनमें एक विशिष्ट रूप वर्षी तप है। वर्षी तप अक्षयतृतीया को निमित्त बना कर किया जाता है; अतएव अक्षयतृतीया की आराधना करके अपनी रत्नत्रयी को अक्षय बनाना चाहिए और अक्षय सुख का भागी होना चाहिए। यही अक्षयतृतीया का मुख्य संदेश है।